दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक छठवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आश्विन
2477

दुनिया में महिमावंत कौन?

दुनिया में यदि कुछ माहात्म्य करने योग्य हो तो वह सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म और धर्मात्मा ही हैं। वह धर्मात्मा वर्तमान में कदाचित् निर्धन अवस्था में हो, किंतु अल्पकाल में जगत्वंद्य तीन लोक का नाथ होना है। लोक में तो जो पुण्य में बड़ा हो वह बड़ा कहलाता है; वकील, डॉक्टर आदि एक दिन में कितने रुपये कमाते हैं उस पर से उनका मूल्यांकन किया जाता है, किंतु खानदानी कैसी है, आत्मज्ञान-श्रद्धा कैसे हैं, उन पर लोग नहीं देखते—बाह्य में देखते हैं। किंतु धर्म में, धर्मात्मा की बाह्य सामग्री कितनी है यह नहीं देखा जाता; वहाँ तो स्वतंत्र आत्मगुण की समृद्धि कितनी है, वह देखी जाती है।

[समयसार-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

78

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

1- हे शिष्य! तू ऐसे आत्मा की श्रद्धा कर!
2- शुद्धउपयोग सो धर्म
3- भगवान कथित नवतत्त्व
4- 'अहो! वाणी थारी....!'
5- नवतत्त्व और धर्म
6- सर्वज्ञ कहाँ हैं और कैसे होते हैं?
7- भाव से भव का अभाव

भाव से भव का अभाव

(दीक्षा-कल्याणक के प्रवचन से)

भाई ! पर की भावना करने से तो तेरा अनंतकाल व्यतीत हो गया, अब ऐसे चैतन्य की महिमा जानकर उसकी भावना तो कर ! उसकी भावना से तेरे भव का अंत आ जायेगा। श्री शांतिनाथ भगवान ऐसी भावना करके मुनि हुए, उसीप्रकार स्वयं अपनी शक्ति अनुसार भावना करना चाहिए। ऐसी भावना में साथ देने योग्य है - ऐसी भावना का अनुसरण करने जैसा है। अहो! ऐसी भावना भाकर जंगल में जाकर ध्यान करें और ऐसे लीन हो कि स्थिर बिम्ब देखकर शरीर के साथ जंगल के रोज और हिरण भ्रम से अपने सींग घिसते हों - ऐसी स्थिति कब होगी? हम तो आनंदकंद हैं - ऐसे भानपूर्वक स्वभाव की भावना भाकर राग तोड़कर शांतिनाथ भगवान वीतरागी मुनि हुए, सुख-दुख में समभावी हुए। सर्वप्रकार के उपसर्ग में समता की भावना करके, उसकी उपेक्षा करने से चैतन्य में लीनता से ऐसी अनुदशा हुई। वन-जंगल में एकाकी विचरनेवाले भगवान को बाह्य संयोगों का कुछ भी दु:ख नहीं था। वे तो आत्मा की लीनता में अतीन्द्रिय आनन्द की मौज करते थे।

आत्मधर्म

आश्विन 2477 ★ वर्ष सातवाँ ★ अंक छठवाँ

'हे शिष्य ! तू ऐसे आत्मा की श्रद्धा कर!'

(श्री समयसार गाथा 49 : भगवान आत्मा छह प्रकार से अव्यक्त हैं। – इस विषय पर सुन्दर प्रवचन)

(मगसिर कृष्णा 12)

जिज्ञासु शिष्य ने ऐसा प्रश्न पूछा है कि रागादिभाव हैं, वह जीव नहीं हैं तो एक टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ? उसके उत्तर में भी आचार्यदेव इस गाथा में जीव के परमार्थस्वरूप का वर्णन करते हैं। आत्मा के ऐसे परमार्थस्वरूप को जानकर उसकी श्रद्धा करने से ही सम्यग्दर्शन होता है।

'छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है; इसलिए अव्यक्त है।' समस्त लोक अपने से बाह्य हैं, इसलिए वह व्यक्त है और लोक अपेक्षा स्वयं अंतरतत्त्व है इसलिए आत्मा अव्यक्त है। उस अव्यक्त स्वभाव को प्रतीति में लेने से परमार्थ आत्मा की प्रतीति होती है। बाह्य तत्त्वों को व्यक्त कहा और ज्ञायक – ऐसा जो अंतरतत्त्व है, उसे अव्यक्त कहा।

यद्यपि आत्मा स्वयं अपना स्वज्ञेय है, किन्तु वह स्वज्ञेय कब होता है ? जब अंतर में ज्ञायक –स्वभाव की ओर उन्मुख हो, तभी स्वयं अपना स्वज्ञेय होता है। एक समय की व्यक्त पर्याय में त्रिकाली तत्त्व सम्पूर्ण नहीं आ जाता, किंतु एक समय की पर्याय में त्रिकाली तत्त्व ज्ञात अवश्य होता है। सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान में ज्ञात हो जाता है, इस अपेक्षा से व्यक्त कहा जा सकता है किन्तु एक समय की व्यक्त पर्याय में वह पूर्ण तत्त्व प्रगट नहीं हो जाता, इसलिए भगवान आत्मा अव्यक्त है। एक समय की व्यक्त पर्याय की प्रतीति करने से सम्पूर्ण आत्मा प्रतीति में नहीं आता, इसलिए आत्मा

अव्यक्त है – ऐसे आत्मा की प्रतीति करना, सो सम्यग्दर्शन है।

आत्मा वर्तमान एक समय में ही त्रिकाली सामर्थ्य से पूर्ण है, वह शक्तिरूप होने से अव्यक्त है। व्यक्त ऐसी पर्याय की दृष्टि छुड़ाकर पूर्ण स्वभावशक्ति की दृष्टि कराने के लिए कहा है कि भगवान आत्मा अव्यक्त है। उस अव्यक्त की श्रद्धा करनेवाली तो वर्तमान व्यक्त पर्याय है, कहीं अव्यक्त द्वारा अव्यक्त की श्रद्धा नहीं होती, किन्तु व्यक्त द्वारा अव्यक्त की श्रद्धा होती है। वे अव्यक्त और व्यक्त दोनों वर्तमान में ही हैं।

वस्तु के स्वभाव को श्रद्धा में ले तो सम्यग्दर्शन हो। वह श्रद्धा करनेवाली वर्तमान पर्याय है और जिसकी श्रद्धा करना है, वह वस्तु भी वर्तमान में ही है। वर्तमान पर्याय द्वारा श्रद्धा होती है तो उस श्रद्धा का कारण भी वर्तमान में ही होना चाहिए। जिसप्रकार श्रद्धा वर्तमान में ही पूर्ण न हो तो उन दोनों की एकता कहाँ से हो ? त्रिकाली शक्ति का पिण्ड ध्रुव चैतन्यबिम्ब वर्तमान में परिपूर्ण और अव्यक्त है, वह श्रद्धा का विषय है और उसकी श्रद्धा, सो सम्यग्दर्शन है। श्रद्धा कार्य है और ध्रुवद्रव्य उसका परमार्थ कारण है। वे दोनों वर्तमान में ही हैं। यदि श्रद्धा का परमार्थ कारण (श्रद्धा का विषय) वर्तमान में परिपूर्ण न हो तो सम्यग्दर्शनरूप कार्य भी नहीं हो सकता। श्रद्धापर्याय व्यक्त है और पूर्ण द्रव्य वर्तमान वर्तता हुआ अव्यक्त है, उस अव्यक्त के आधार से होनेवाले व्यक्त द्वारा अव्यक्त द्रव्य की प्रतीति होती है। श्रद्धा स्वयं वर्तमान और जिसकी श्रद्धा करना हो, वह यदि वर्तमान न हो तो उसकी श्रद्धा ही कैसे हो ? सम्पूर्ण वस्तु वर्तमान अव्यक्त (शक्तिरूप) पड़ी है, उसकी श्रद्धा करने में किसी परद्रव्य की या राग की तो अपेक्षा नहीं है किन्तु वह वर्तमान वर्तता हुआ स्वद्रव्य स्वयं ही श्रद्धा का परमार्थ कारण है, उसी के आश्रय से परमार्थश्रद्धा होती है। वह कारण यदि वर्तमान में न हो तो श्रद्धारूप कार्य भी वर्तमान में कहाँ से हो ? यदि पूर्ण द्रव्य वर्तमान ही विद्यमान न हो तो श्रद्धा काहे में लक्ष करके स्थिर रहेगी ? श्रद्धा को किसका आधार ? श्रद्धा का आधार द्रव्य है, वह पूर्ण द्रव्य वर्तमान में ही है, उसकी ओर उन्मुख होकर उसकी प्रतीति करने से सम्यक्श्रद्धा होती है। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रादि भी वर्तमान पूर्ण द्रव्य के आश्रय से ही होते हैं। कार्य वर्तमानरूप है, उसीप्रकार उसका परमार्थकारण भी वर्तमान में ही शक्तिरूप से पूर्ण है। इससे, अपने सम्यक्श्रद्धा आदि गुण प्रगट करने के लिए कहीं बाह्य में देव-गुरु-शास्त्र आदि के समक्ष-नहीं देखना पड़ता, किन्तु अपना स्वभाव ही वर्तमान पूर्ण विद्यमान है, उसमें

अंतरमुख होकर उसका आश्रय करने से सम्यकश्रद्धा आदि प्रगट होते हैं।

सम्पूर्ण लोक के समस्त ज्ञेयों को ज्ञायक अंतरतत्त्व से भिन्न जानकर, अंतरस्वभावोन्मुख होकर आत्मा की प्रतीति करे तो अव्यक्त आत्मा की श्रद्धा हुई कहलाये।

इसप्रकार अव्यक्त का प्रथम बोल कहा।

अब, अव्यक्त का दूसरा बोल कहते हैं –

'कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है।' आत्मा की क्षणिक अवस्था में जो कषायभाव हो, उससे भी आत्मा का स्वभाव पृथक् है, तब फिर परवस्तु से आत्मा पृथक् है – यह बात तो उसमें आ ही जाती है। कषायभावों से आत्मा पृथक् है – ऐसा कहते ही निमित्तादि परद्रव्यों की उपेक्षा करके आत्मा की ओर उन्मुख होना ही आया, क्योंकि कषायभाव सदैव परद्रव्य के अवलम्बन से ही होते हैं। कषायभाव बाह्य पदार्थ के अवलम्बन द्वारा होते हैं, इसलिए उन्हें व्यक्त कहा, आत्मा के अंतर स्वभाव के आश्रय से कषायभाव की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए वह अव्यक्त है। कषायभावों से जीव अन्य है – ऐसा यहाँ कहा, उसमें स्वद्रव्योन्मुख होना ही आता है।

देखो, वीतरागता शास्त्रों का प्रयोजन है; राग हो, वह शास्त्रों का तात्पर्य नहीं है। अब, 'राग तात्पर्य नहीं है' ऐसा कहते ही परद्रव्य के आलम्बन की उपेक्षा करना ही आ जाता है, क्योंकि परद्रव्य के अवलम्बन से ही राग होता है। वीतरागता तो स्वद्रव्य के अवलम्बन से होती है। इसलिए वीतरागता को तात्पर्य कहा, उसमें परद्रव्यों से उपेक्षा करके स्वद्रव्य का अवलम्बन करना ही कहा है।

कोई ऐसा माने कि – देव–गुरु अथवा शास्त्रादि निमित्तों की उपेक्षा नहीं करना चाहिए तो वह जीव वीतरागी तात्पर्य को नहीं समझा है। वीतरागता कब होती है ? – स्वद्रव्य का आश्रय करे तब। देव–गुरु–शास्त्र भी वास्तव में तो परद्रव्य ही हैं और परद्रव्य के अवलम्बन से राग की ही उत्पत्ति होती है, इसलिए परद्रव्य का अवलम्बन नहीं छोड़ना चाहिए – उपेक्षा नहीं करना चाहिए – ऐसा जिसने माना, उसने राग को ही तात्पर्य माना है, किन्तु वीतरागता को तात्पर्य नहीं माना। जो जीव वीतरागता को तात्पर्य माने–स्वीकार करे, वह जीव परद्रव्य का अवलम्बन करने जैसा नहीं

मानता। वीतरागता को ही तात्पर्य माननेवाले जीव को परद्रव्य के अवलम्बन की रुचि छूटकर स्वद्रव्य के ही अवलम्बन की रुचि होती है। इसलिए 'शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है' – ऐसा कहते ही उसमें 'स्वद्रव्य की अपेक्षा और समस्त परद्रव्य से उपेक्षा' करना आ ही जाता है।

वीतरागता को तात्पर्य कहते ही, उस वीतरागता से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है। सम्यग्दर्शन भी वीतरागतावाला है और वह स्वद्रव्य के आदर से ही होता है। किन्हीं देव–गुरु आदि पर के आदर से या राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु मात्र स्व–स्वभाव के आदर से ही सम्यग्दर्शन होता है। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान भी वीतरागभाव है और वह भी स्वद्रव्य के आदर से ही होता है और सम्यक्चारित्र भी वीतरागभाव है तथा वह भी मात्र स्वद्रव्य के अवलम्बन से ही होता है। केवलज्ञान भी स्वद्रव्य के आदर तथा आश्रय से ही होता है। पर्याय के अथवा परद्रव्य के आदर से वीतरागभाव नहीं होते, किन्तु राग ही होता है।

इसप्रकार 'वीतरागता' स्वद्रव्य का ही आदर करती है, क्योंकि स्वद्रव्य के आदर से ही वीतरागता होती है। परद्रव्य, निमित्त या पर्याय के आदर से ही वीतरागता नहीं होती किन्तु राग होता है, इसलिए उन किसी का आश्रय करना – वह तात्पर्य नहीं है। वीतरागता स्वद्रव्य के अवलम्बन का भाव है और राग परद्रव्य के अवलम्बन का भाव है। वीतरागता का कारण स्वद्रव्य और वीतरागभावरूप कार्य – दोनों का वर्तमान में ही समावेश होता है।

वर्तमान में प्रवर्तमान पूर्ण द्रव्य, सो कारण और उस द्रव्य के आश्रय से प्रगट हुई वीतरागी पर्याय, सो कार्य, इसके अतिरिक्त परद्रव्य आत्मा का कुछ करता है या आत्मा पर का करता है – ऐसा जिसने माना, उसने वस्तु को नहीं जाना है।

(1) ईश्वर ने जीव को बनाया है – ऐसा जिसने माना उसने पूर्ण तत्त्व का कर्ता पर को माना, इसलिए सम्पूर्णतत्त्व को पराधीन माना है।

(2) ईश्वर ने जीव को बनाया है – ऐसा तो नहीं माने, किन्तु निमित्त आये वैसी पर्याय होती है – इसप्रकार जिसने वर्तमान पर्याय का कर्ता पर को माना, उसने अपने वर्तमान को स्वतंत्र नहीं माना, वर्तमान को उड़ाने से द्रव्य को भी उड़ा दिया। इसलिए उसकी श्रद्धा भी मिथ्या है।

(3) रागादिभाव परनिमित्त से होते हैं – ऐसा न माने किन्तु, अपनी योग्यता से रागादि होते

हैं – ऐसा माने, परन्तु उस राग जितना ही आत्मा को माने अर्थात् राग से लाभ माने तो उसने भी लाभ के कारणरूप ऐसे सम्पूर्ण द्रव्य को उड़ा दिया क्योंकि लाभ कार्य तो द्रव्य के आश्रय से होता है, उसे न मानकर राग के आश्रय से लाभ माना तो उसकी मान्यता में राग ने ही सम्पूर्ण द्रव्य का कार्य किया, इसलिए राग के अतिरिक्त दूसरा द्रव्य नहीं रहा।

– इसप्रकार यथार्थ तत्त्व से कुछ भी उलटा-सीधा मानने से सारा तत्त्व ही उड़ जाता है, यानि तत्त्व की मिथ्याश्रद्धा होती है।

यहाँ 'अव्यक्त' विशेषण द्वारा आत्मा का परमार्थ स्वरूप बतलाते हैं। सत्स्वभावी आत्मतत्त्व की भावना के लिए कषाय काम में नहीं आती। अशुभ और शुभ, यह दोनों भाव कषाय के ही प्रकार हैं। आत्मा त्रिकाली सामर्थ्यवाला है और कषाय एक क्षण रहनेवाली है, आत्मद्रव्य कषाय से पृथक् है, इसलिए द्रव्यस्वभाव की भावना से कषाय नष्ट हो जाती है।

परवस्तु से या परवस्तु के लक्ष से होनेवाले कषाय भावों से आत्मा का परमार्थस्वरूप अनुभव में नहीं आता, इसलिए स्वद्रव्य अपेक्षा करने योग्य है और परद्रव्य उपेक्षा करने योग्य है। कषाय परद्रव्य के लक्ष से होती है, इसलिए उससे स्वद्रव्य पृथक् है। स्वद्रव्य ही सम्यक्त्वादि का बीज है। परद्रव्य के आश्रय से कषाय होती है और स्वद्रव्य के आश्रय से वीतरागता होती है।

'जिसकी भावना से जो भाव हो, वह भाव उसी का है।' स्वद्रव्य की भावना से जो भाव हो, वह भाव स्वद्रव्य का है, वह वीतरागी भाव है और परद्रव्य की भावना से जो भाव हो, वह परमार्थ से परद्रव्य का है–वह रागभाव है। इसप्रकार दो ही विभाग करके राग की गणना भी परद्रव्य में कर दी। रागभाव वास्तव में स्वद्रव्य का स्वभाव नहीं है, इसलिए स्वभावदृष्टि से तो वह परद्रव्य का ही भाव है।

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है, उस वीतरागतारूप से परिणमित होनेवाला द्रव्य है। राग की भावना करने से द्रव्य वीतरागतारूप परिणमित नहीं होता, किन्तु द्रव्य की भावना करने से ही वह वीतरागतारूप परिणमित होता है। वीतराग पार्याय के आश्रय से वीतरागता नहीं होती किन्तु द्रव्य के आश्रय से वीतरागी पर्याय होती है। पर्याय तो क्षणिक है और द्रव्य ध्रुव है। जो ध्रुव स्थायी वस्तु हो, उसकी भावना भायी जाती है।

स्वद्रव्य की भावना करे तो उस ओर उन्मुख होकर एकाग्र हुआ जा सकता है और वीतराग भाव प्रगट होता है। परद्रव्य की या पर्याय की भावना करे तो उससे स्वद्रव्योन्मुख नहीं हुआ जाता किन्तु रागभाव ही होता है। इसलिए हे भाई ! तू स्वद्रव्य के अवलम्बन की ओर ढलकर स्वद्रव्य को ही वीतरागता का कारण बना। सर्व शास्त्रों का प्रयोजन वीतरागता है, उस वीतरागता की साधना स्वद्रव्य के आश्रय से ही होती है, इसलिए स्वद्रव्य का आश्रय ही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य हुआ।

पर्याय प्रगट होने का सामर्थ्य द्रव्य में है, एक पर्याय में दूसरी पर्याय को प्रगट करने का सामर्थ्य नहीं है। एक राग पर्याय में से दूसरी राग की पर्याय भी नहीं आती, तब फिर उस राग में से वीतरागता तो कहाँ से आयेगी ? पर्याय के अवलम्बन से तो राग की ही उत्पत्ति होगी। ध्रुव द्रव्य सम्पूर्ण वर्तमान में है, उसका आश्रय करने से वह ध्रुव कारण होकर उसमें से वीतरागी पर्याय होती रहेगी। इसप्रकार अकेले स्वद्रव्योन्मुख होकर उसका अवलम्बन करना ही इन समस्त बोलों का तात्पर्य है।

'अव्यक्त' के छह बोलों में भिन्न-भिन्न पक्षों से वर्णन किया है, किन्तु उनका योगफल तो एक ही है, छहों प्रकार स्वद्रव्य के अवलम्बन की ओर ढलना ही बतलाते हैं। एक बोल में कुछ बतलाया और दूसरे बोल में उससे पृथक् कुछ और ही बतलाया - ऐसा नहीं है। छह बोलों के छह भिन्न-भिन्न तात्पर्य नहीं हैं, किन्तु छहों बोलों का तात्पर्य एक ही है। शैली में परिवर्तन करके भी सभी बोलों में एक स्वद्रव्य का ही अवलम्बन बतलाया है। जो स्वद्रव्य के अवलम्बन की ओर ढला, वह सभी बोलों का रहस्य समझ गया।

यह तो जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसके लिए अपूर्व बात है। ऐसा आत्मा समझने से ही कल्याण है। विपरीत श्रद्धा के कारण आत्मा अनादि से चौरासी के कुंए में पड़ा है, उसमें से उसे कैसे बाहर निकालना, उसकी यह बात है। प्रथम परिपूर्ण स्वभाव की यथावत् श्रद्धा करे तो उस श्रद्धा के बल से जैसे का तैसा परिपूर्ण आत्मा चौरासी के कुंए में से बाहर निकल जाये। अपने आत्मा पर दया लाकर, उसे चौरासी के अवताररूपी कुएं में से बाहर निकालने के लिए जगत की दरकार छोड़कर सर्व सामर्थ्य से भीतर उतरना योग्य है।

यहाँ 'अव्यक्त' विशेषण के छह बोलों में से आत्मा का स्वभाव समझाते हैं। उनमें से दो बोल पूर्ण हुए, अब तीसरा बोल कहते हैं -

'चित्सामान्य में चैतन्य की सर्व व्यक्तियाँ निमग्न (अंतर्भूत) हैं, इसलिए अव्यक्त हैं।' दूसरे बोल में विकारी भावों को आत्मा से अन्य कहा था और इस बोल में कहते हैं कि निर्मल पर्यायें आत्मा में अभेद होती हैं। पर्याय स्वभाव में ही एकतावाली होती है, अव्यक्त तत्त्व से उसकी पर्यायें पृथक् नहीं होती। इसलिए व्यक्त पर्याय के भेदों से द्रव्य का भेदन नहीं हो जाता, इससे आत्मा अव्यक्त है। इसलिए पर्याय को अलग करके पर्याय को देखना नहीं रहता, किन्तु द्रव्य में ही देखता रहता है।

वस्तु नित्य स्थायी रहकर परिणमित होती है। यदि वस्तु परिणमित न होती हो तो यह श्रद्धा-ज्ञानादि परिणाम ही सिद्ध न हों। चैतन्यशक्ति कारण है और निर्मल पर्याय कार्य है, वे कारण-कार्य परमार्थतः भिन्न नहीं हैं, क्योंकि पर्यायें द्रव्य में ही अंतर्भूत होती हैं। और श्रद्धा-ज्ञान आदि पर्यायरूप कार्य वर्तमान व्यक्त है तो उसके कारणरूप अव्यक्त द्रव्य भी वर्तमान ही होना चाहिए।

श्रद्धापर्याय प्रगट हुई तो उस श्रद्धा का पूरा कारण वर्तमान में है।

ज्ञानपर्याय व्यक्त हुई तो उस ज्ञान का कारण पूर्ण ज्ञानशक्ति वर्तमान में है।

आनंद प्रगट हुआ तो उस आनंद के कारणरूप पूर्ण आनंदस्वभाव है।

इसप्रकार अनंतशक्ति का पिण्ड परिपूर्ण स्वभाव है, वह अप्रगट है-अव्यक्त है-सामान्यरूप है और पर्यायें प्रगट हैं-व्यक्त हैं-विशेषरूप हैं। समान्यस्वभाव में ही समस्त पर्यायें अंतर्मग्न होती हैं, इसलिए वे कारण और कार्य पृथक् नहीं होते। व्यक्तपर्याय जितना तत्त्व नहीं है। किन्तु पूर्ण अव्यक्त चैतन्यतत्त्व है, वही त्रिकाल एकरूप परमार्थ जीवतत्त्व है। 'त्रिकाल' कहने से 'वर्तमान पूर्ण' - इसप्रकार पूर्णता बतलाता है किन्तु काल का विस्तार नहीं बतलाना है। तीनों काल के सामर्थ्य का पिण्ड वर्तमान में है, वस्तु 'वर्तमान पूर्ण' है, उसे यहाँ अव्यक्त कहा है।

वर्तमान में पूर्ण-अखण्ड है - ऐसी दृष्टि कर! 'यह राग है, इसके फलस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति होगी और भगवान के पास पहुँचेंगे - ऐसा तो मत देख, किन्तु वर्तमान साधक पर्याय है और मोक्षपर्याय भविष्य में होगी - ऐसे पर्याय के भेद को भी मुख्यरूप से न देख, पूर्ण तत्त्व वर्तमान अव्यक्त है, उसके सन्मुख देख, उसकी प्रतीति कर।

1. ज्ञेय व्यक्त है, उनसे ज्ञायक तत्त्व भिन्न है, इसलिए अव्यक्त है।

2. विकारी भाव व्यक्त हैं, उनसे ज्ञायकतत्त्व भिन्न हैं, इसलिए अव्यक्त हैं।

3. पर्याय व्यक्त है, वह द्रव्य में ही निमग्न होने से आत्मा अव्यक्त है।

– इसप्रकार अव्यक्त के तीन बोल हुए।

अब चौथा बोल कहते हैं –

'क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है, इसलिए अव्यक्त है।'

देखो, आचार्यदेव ने द्रव्य और पर्याय – दोनों को इकट्ठा रखकर बात की है। क्षणिक व्यक्ति, सो पर्याय है, उसे न माने और तत्त्व को सर्वथा कूटस्थ ही माने तो वह स्थूल भूल है। पर्याय है अवश्य, किन्तु उस क्षणिक पर्याय जितना ही पूर्ण तत्त्व नहीं है। यदि क्षणिक व्यक्ति को न माने तो वह सम्पूर्ण अव्यक्त आत्मा को नहीं मान सकेगा और यदि क्षणिक व्यक्ति जितना ही मानकर सम्पूर्ण अव्यक्तस्वभाव को न माने तो उसे भी पूर्ण तत्त्व प्रतीति में नहीं आयेगा। पूर्ण तत्त्व को प्रतीति में लिये बिना सच्ची श्रद्धा या धर्म नहीं होते।

यह समझे बिना परमार्थ से केवली भगवान को भी माना नहीं कहा जा सकता। देखो, केवली कौन है ? केवल अर्थात् मात्र स्वद्रव्य के अवलम्बन से जिसके पूर्ण पर्याय व्यक्त हो गई, वह केवली है। वह पूर्ण पर्याय कहाँ से आई ? पूर्ण शक्ति में से। इसलिए पर्याय को न माने तो वह केवली को यथार्थ नहीं मान सकता।

प्रत्येक समय की पर्याय प्रकट होती है, वह व्यक्त है, उस पर्याय में सम्पूर्ण द्रव्य प्रगट नहीं हो जाता किन्तु यह तो शक्तिरूप रहता है, इसलिए वह अव्यक्त है। यदि क्षणिक पर्याय में ही सम्पूर्ण तत्त्व प्रगट हो जाये, तो फिर दूसरे क्षण जो पर्याय होती है, वह कहाँ से आयेगी ? दूसरे क्षण तो तत्त्व का नाश हो जायेगा। इसलिए क्षणिक पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है, किन्तु भगवान आत्मा अव्यक्त है। आत्मा को 'अव्यक्त' कहा, उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि वह ज्ञान में ज्ञात नहीं होता है, इसलिए उस अपेक्षा से तो ज्ञान में वह व्यक्त है, किन्तु क्षणिक पर्याय में आप सम्पूर्ण नहीं आ जाता, इसलिए उसे अव्यक्त विशेषण से पहिचाना जाता है।

पर्याय है, तभी तो 'पर्याय जितना आत्मा नहीं है' – ऐसा कहा है, जो पर्याय को सर्वथा ही न माने, उसे तो 'आत्मा पर्याय जितना नहीं है' – ऐसा कहना भी नहीं रहता। पर्याय है तो अवश्य, किन्तु उस पर्यायबुद्धि से देखनेवाले के सम्पूर्ण वस्तु दृष्टि में नहीं आती। इसलिए पर्याय की बुद्धि छुड़ाकर वस्तु की दृष्टि कराने के लिए कहा है कि आत्मा क्षणिक पर्यायमात्र नहीं है। सम्पूर्ण वस्तु अव्यक्त है, उस वस्तु की दृष्टि करो। पर्याय तो क्षणिक परिवर्तित होती है, उसके आश्रय से तो क्षणिक व्यक्ति की ही प्रतीति होगी किन्तु सम्पूर्ण तत्त्व प्रतीति में नहीं आयेगा क्योंकि तत्त्व क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है, एक पर्याय पर से लक्ष हट जाने पर भी अंतर में द्रव्य का अवलम्बन नहीं छूटता, इसलिए आत्मा क्षणिक पर्याय जितना व्यक्त नहीं है किन्तु अव्यक्त है। ऐसे त्रिकाली सम्पूर्ण अव्यक्त आत्मा की प्रतीति करना ही सम्यक्श्रद्धा है।

इसप्रकार 'अव्यक्त' का चौथा प्रकार हुआ।

अब अव्यक्त का पाँचवाँ प्रकार समझाते हैं –

'व्यक्तपना तथा अव्यक्तपना एक साथ मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तपने को स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है।' वर्तमान व्यक्त पर्याय कार्य है और ध्रुव अव्यक्त कारण है, यह कारण और कार्य दोनों वर्तमान में एकसाथ हैं, उनके कालभेद नहीं हैं और उन दोनों के ज्ञान का भी कालभेद नहीं है। द्रव्य-पर्याय दोनों एकसाथ हैं और ज्ञान में वे दोनों एकसाथ प्रतिभासित होते हैं, दोनों एक साथ ज्ञात होने पर भी, मात्र पर्याय को नहीं जानता, इसलिए आत्मा अव्यक्त है।

वस्तु में व्यक्तपना और अव्यक्तपना – दोनों एकसाथ हैं और ज्ञानपर्याय में द्रव्य-पर्याय दोनों को एकसाथ जानने का सामर्थ्य है। एक पर्याय के सामर्थ्य को जानने से द्रव्य-पर्याय दोनों का ज्ञान भी साथ ही आ जाता है, तथापि अकेली पर्याय को ही नहीं जानता, किन्तु द्रव्य के ज्ञानसहित पर्याय का ज्ञान करता है। देखो, सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान पर्याय है, वह सम्पूर्ण द्रव्य को स्वीकार करती है, इसलिए उस पर्याय को जानने से उसके विषयरूप सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान भी उसमें आ जाता है, परन्तु उससे 'ज्ञान मात्र व्यक्त पर्याय को ही जानता है और अव्यक्त द्रव्य को नहीं जानता' – ऐसा नहीं है। ज्ञान तो अव्यक्त द्रव्य और व्यक्त पर्याय – दोनों को जानता है। ज्ञान में द्रव्य-पर्याय दोनों

एकसाथ ज्ञात होने पर भी, वह ज्ञान अव्यक्त द्रव्य की ओर उन्मुख होकर उस द्रव्य के ज्ञानसहित पर्याय को जानता है। अकेली, व्यक्त पर्याय को जानने से परमार्थ आत्मा ज्ञात नहीं होता किन्तु अव्यक्त द्रव्य के ज्ञानसहित पर्याय को जाननेवाले ज्ञान में ही आत्मा ज्ञात होता है, इसलिए वह अव्यक्त है।

जिसप्रकार केवलज्ञान को जानने से लोकालोक के ज्ञेयों का ज्ञान भी हो जाता है, उसीप्रकार एक पर्याय के सामर्थ्य को जानने से उसमें द्रव्य-पर्याय दोनों का ज्ञान आ जाता है, तथापि मात्र पर्याय को ही आत्मा नहीं जानता, इसलिए वह अव्यक्त है। अकेली पर्याय को जानने से भगवान आत्मा का स्वरूप ज्ञात नहीं होता, किन्तु द्रव्य के ज्ञानसहित पर्याय को जाने तो भगवान आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है।

इसप्रकार अव्यक्त के पाँच बोल कहे, अब अन्तिम बोल कहते हैं।

'स्वयं अपने से ही बाह्य-अभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है, तथापि व्यक्तपने के प्रति उदासीनरूप से प्रद्योतमान (प्रकाशमान) है, इसलिए अव्यक्त है।'

किसी को ऐसा लगे कि पर को जानने में परसन्मुख होकर जानता होगा। तो कहते हैं कि नहीं, पर को ही जानता होने पर भी आत्मा पर के प्रति उदासीनरूप से रहकर और स्वसन्मुख रहकर पर को जानता है। स्व को जानने से पर का भी ज्ञान हो जाता है। स्व का और पर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तथापि स्वयं स्वद्रव्य की ओर ही नियतरूप से वर्तता है और व्यक्त - ऐसे पर ज्ञेयों के प्रति उदासीनरूप से वर्तता है, ज्ञेयों के अभावरूप स्वयं वर्तता है, इसलिए आत्मा अव्यक्त है।

एकसमय के प्रत्यक्ष ज्ञान में तो पूर्ण वस्तु ज्ञात हो जाती है, किन्तु एक समय की पर्याय में पूर्ण द्रव्य प्रगट नहीं हो जाता, इस अपेक्षा से भगवान आत्मा अव्यक्त है। अव्यक्त होने पर भी ज्ञान में प्रत्यक्ष है, और ज्ञान में प्रत्यक्ष होने पर भी अव्यक्त है।

छह प्रकार से अव्यक्त कहकर भगवान आत्मा को ज्ञायक बतलाया।

पहले बोल में, ज्ञेयों से पृथक् है, इसलिए अव्यक्त कहा।

दूसरे बोल में, विकार से पृथक् है, इसलिए अव्यक्त कहा।

तीसरे बोल में, पर्याय को द्रव्य में अभेद करके अव्यक्त कहा।

चौथे बोल में, क्षणिक पर्याय को पृथक् करके लक्ष में ले तो उसका निषेध करके अव्यक्त कहा।

पाँचवें बोल में, मात्र पर्याय को ही नहीं जानता, इसलिए अव्यक्त कहा।

छठवें बोल में, पर-सन्मुख रहकर पर को नहीं जानता, किन्तु पर से उदासीनरूप से प्रकाशमान है, इसलिए अव्यक्त कहा।

– इसप्रकार छह बोलों द्वारा अव्यक्त कहकर भगवान आत्मा का परमार्थस्वरूप बतलाया, वैसे आत्मा को पहिचानकर श्रद्धा करना, सो प्रथम धर्म है।

शुद्ध उपयोग, सो धर्म

श्री वींछिया में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय
वीर सं. 2475 के फाल्गुन शुक्ला 4 के दिन भगवान
के गर्भकल्याणक प्रसंग पर श्री प्रवचनसार गाथा
159 पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का
प्रवचन

1. कल्याण का मार्ग

देखो, यह पंचकल्याणक महोत्सव के दिन हैं। वास्तव में तो, सर्वज्ञभगवान कैसे होते हैं और उन्होंने आत्मा का कैसा स्वरूप कहा है, उसे जानकर अपने आत्मा का भान प्रगट करना ही महोत्सव है तथा वही कल्याण का मार्ग है। सुपात्र जीवों को देव-गुरु-धर्म की भक्ति-प्रभावना और जिनमंदिर की स्थापना कराने आदि का शुभराग होता है, किन्तु वहाँ मात्र राग का हेतु नहीं है, उनका लक्ष तो अन्तर में वीतरागभाव के पोषण का है। आत्मा का स्वभाव रागरहित है, उस स्वभाव के लक्ष बिना पंचकल्याणक आदि के शुभराग जीव ने पहले अनंतबार किये और उनमें धर्म मान लिया। किन्तु आत्मा के भान बिना उसका भवभ्रमण दूर नहीं हुआ। यहाँ तो, आत्मा का अपूर्व भान प्रगट होकर भवभ्रमण कैसे दूर हो, उसकी बात है।

2. अशुद्धोपयोग का फल संसार, शुद्धोपयोग का फल मोक्ष

अपने रागरहित ज्ञानस्वभाव के भान बिना अनादि से राग-द्वेष-अज्ञानभाव का कर्ता होकर आत्मा संसार में भ्रमण कर रहा है। आत्मा का भान करके शुद्धोपयोग प्रगट करने से वह परिभ्रमण दूर होता है। अशुद्ध उपयोग संसार का कारण है और शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण है, इसलिए धर्मी जीव अशुद्धोपयोग का नाश करके शुद्ध उपयोग से आत्मा में ही लीन रहने की भावना करते हैं, उसका वर्णन इस 159वीं गाथा में किया है।

आत्मा स्वयंसिद्ध असंयोगी वस्तु है, किसी ईश्वर ने उसे उत्पन्न नहीं किया है और वह नष्ट होकर किन्हीं संयोगों में मिल जाये - ऐसा नहीं है। आत्मा स्वतंत्र चैतन्यस्वभाव की मूर्ति है, परद्रव्य के लक्ष से उसे जो शुभ या अशुभ उपयोग हो, वह बंधन है, अशुद्ध भाव है, वह आत्मा के धर्म का कारण नहीं है। शुभ या अशुभ दोनों भावों से आत्मा के स्वभाव का विकास नहीं होता किन्तु बंधन होता है और उससे आत्मा को शरीरादि परद्रव्यों का संयोग अर्थात् संसार होता है। शुभ-अशुभरागरहित आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर उसमें रमणता करना, सो शुद्धोपयोग है, वही धर्म है और वही मोक्ष का कारण है। अशुद्ध उपयोग परद्रव्य का अनुसरण करने से होता है और उसके फल में भी परद्रव्य का ही संयोग होता है; शुद्ध उपयोग स्वद्रव्य के अनुसरण से होता है और उसके फलस्वरूप मुक्तदशा प्रगट होती है।

3. शुद्ध उपयोग ही धर्म

शरीर और कर्म तो अजीवतत्त्व हैं, उनमें जीव का धर्म नहीं है। हिंसा, चोरी, कुसंग आदि के भाव, सो पापतत्त्व हैं, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, जीवों की दया आदि भाव पुण्यतत्त्व हैं। उन पुण्य-पापतत्त्वों में भी जीव का धर्म नहीं है। शुद्ध ज्ञानमय जीवतत्त्व के आश्रय से जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, वही धर्म है। अनादिकाल से जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है, उसमें अनंतकाल में यह मनुष्यदेह प्राप्त करके यदि आत्मोन्मुखता न करे और इस समय सत् न समझे तो जन्म-मरण का अंत लाने का प्रारम्भ भी नहीं होगा। पुण्य-पापरहित त्रिकाली चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव को जानकर उसकी रुचि-प्रतीति और रमणता करना ही शुद्धोपयोग है और वह शुद्धोपयोग ही मुक्ति का कारण है। देव-गुरु आदि पर की भक्ति का शुभभाव या पर की अविनय का अशुभभाव - दोनों में परोन्मुखता है, इसलिए दोनों उपाधि भाव हैं, उसमें धर्म नहीं है।

4. प्रभु ! तेरी चैतन्यजाति !

प्रभु ! तेरी चैतन्यजाति क्या है, वह यहाँ बतलाते हैं। जो आत्मा अंतरस्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रत द्वारा राग-द्वेष दूर करके पूर्ण परमात्मा हुए, उन आत्माओं जैसी ही तेरी जाति है, उनके राग-द्वेष दूर हुए, इसलिए राग-द्वेष तेरी जाति नहीं है। जिसप्रकार पानी का मूल स्वभाव ठंडा है, उष्णता उसका स्वरूप नहीं है; उसीप्रकार आत्मा में जो राग-द्वेष की वृत्ति होती है, वह उसका मूल स्वरूप नहीं है, मूल स्वरूप तो सिद्ध समान परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप, राग-द्वेष रहित है।

बाह्य लक्ष से होनेवाले शुभाशुभभावों से बाह्य संकेत मिलते हैं, किन्तु स्वभाव प्राप्त नहीं होता। शुभ या अशुभभाव आत्मा को आकुलतारूप दु:ख का ही कारण है। शुभाशुभभाव परद्रव्य के संयोग के कारण हैं – ऐसा कहना, वह मात्र निमित्त–नैमित्तिक संबंध का कथन है।

5. बंधन भाव और धर्म भाव

पुण्य और पाप – दोनों संयोगी भाव हैं, उनसे नवीन बंधन होता है। जिस भाव से आत्मा को नवीन बंधन हो, वह भाव धर्म नहीं हो सकता। जो भाव धर्म हो, वह नवीन बंधन का कारण नहीं हो सकता। यदि धर्मभाव से भी बंधन होता हो तो ज्यों–ज्यों धर्म बढ़ता जाये, त्यों–त्यों आत्मा को बंधन भी बढ़ता जाये। जो फिर आत्मा की मुक्ति कब होगी ? इसलिए धर्म कभी बंधन का कारण नहीं हो सकता और शुभरागभाव बंधन का कारण है। यदि रागभाव धर्म हो तो ज्यों–ज्यों राग बढ़े, त्यों–त्यों धर्म में भी वृद्धि हो, इसलिए केवली भगवान को बहुत राग हो जायेगा। परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। जिस भाव से बंधन हो, उस भाव से धर्म नहीं होता, और जिस भाव से धर्म हो, उससे बंधन नहीं होता। जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म का बंधन हो, वह भी आत्मा के स्वभाव से विरुद्धभाव है, बंधनभाव है और स्पष्ट शब्दों में कहा जाये तो वह भी अधर्मभाव है, क्योंकि धर्मभाव द्वारा कर्म का बंधन नहीं होता।

6. अंशत: अधर्म और पूरा अधर्म

कोई कहे कि तीर्थंकरनामकर्म का बंध हुआ, उस भाव में अंशत: तो धर्म है न ? तो कहते हैं कि नहीं, जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म का बंध होता है, वह भाव अंशत: धर्म नहीं, किन्तु अंशत: अधर्म है। यहाँ 'अंशत: अधर्म' किसलिए कहा ? उसका स्पष्टीकरण – जिस रागभाव से तीर्थंकरनामकर्म का बंध हुआ, वह रागभाव तो अधर्म ही है, उसमें कहीं धर्म का अंश नहीं है। परन्तु तीर्थंकरनामकर्म सम्यग्दृष्टि को ही बंधता है, शुभराग के समय सम्यग्दृष्टि को आत्मा का यथार्थ ज्ञान–श्रद्धान है, उतने अंश में धर्म है और जितना राग है, उतना अधर्म है। इसप्रकार राग के समय भी उसके साथ ज्ञानी को सम्यग्दर्शन–ज्ञानरूप धर्म के अंश हैं, वह बतलाने के लिए उसके राग को 'अंशत: अधर्म' कहा है। राग के समय उसे मिथ्यात्वरूप अधर्म नहीं है, इसलिए उसे 'अंशत: अधर्म' कहा है और मिथ्यादृष्टि तो उस राग को ही धर्म मानता है, इसलिए उसे 'अंशत: अधर्म' नहीं, किन्तु उसका तो पूरे का पूरा अधर्म है, किंचित् धर्म नहीं है।

7. अशुद्ध उपयोग सो अधर्म, शुद्ध उपयोग सो धर्म

सच्चे देव-गुरु की भक्ति, जीवों की अनुकम्पा आदि का भाव, वह शुभभाव है और सच्चे देव-गुरु से विरुद्ध - ऐसे कुमार्ग की श्रद्धा, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग तथा विषय-कषाय आदि के भाव - वह अशुभभाव हैं। यह शुभ और अशुभ दोनों भाव आत्मा को परद्रव्य के संयोग के कारण हैं, इसलिए वे अधर्म हैं-अशुद्धभावों से रहित होकर आत्मा के ध्यान में लीन होना, सो शुद्धभाव है, वह धर्म है और आत्मा को मुक्ति का कारण है। इसलिए अशुद्ध उपयोग का विनाश करने के लिए और शुद्धोपयोग से आत्मा में लीन रहने के लिए धर्मी जीव कैसा अभ्यास करता है- उसका श्री आचार्य भगवान वर्णन करते हैं -

असुहोव ओग रहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णद वियम्हि।
होज्जं मज्झत्थो ऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए।।159।।

'मध्यस्थ परद्रव्ये थतो, अशुभोपयोग रहित ने,
शुभमां अयुक्त हुं ध्याउं छु निज आत्मने ज्ञानात्मने'।।159।।

'अन्य द्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ मैं अशुभोपयोग रहित हुआ और शुभोपयुक्त न होता हुआ ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ।' इसप्रकार, परद्रव्य के संयोग का कारण जो अशुद्धोपयोग है, उसके विनाश के लिए ज्ञानी अभ्यास करता है। यहाँ मुख्यतया मुनि की बात है।

8. धर्म और धर्म का मूल

यह ज्ञेय अधिकार है। श्री जयसेनाचार्यदेव ने इसे दर्शनशुद्धि का अधिकार भी कहा है। सम्यक्दर्शन धर्म का मूल है और चारित्र साक्षात् धर्म है। वह चारित्र किन्हीं बाह्य क्रियाकाण्डों में नहीं है, किन्तु आत्मा में मोह और क्षोभरहित वीतरागी साम्यभाव प्रगट हो, वह चारित्र है। व्रत और अव्रतरहित आत्मा का वीतरागभाव, सो चारित्र धर्म है, उसका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना कभी चारित्रधर्म नहीं होता। जगत के समस्त पदार्थ ज्ञेय हैं और उन सबको जाननेवाला मेरा ज्ञानस्वभाव है, इसप्रकार ज्ञेय पदार्थों को प्रतीति के साथ अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति भी आ जाती है, इसलिए ज्ञेय अधिकार में दर्शनशुद्धि का वर्णन भी आ जाता है। जो दर्शनशुद्धि प्रगट हुई, वह भी ज्ञान का ज्ञेय है। दर्शनशुद्धि स्वयं अपने को नहीं जानती किन्तु ज्ञान ही उसे जानता है।

9. ज्ञेय-ज्ञायक स्वभाव

आत्मा में ज्ञानस्वभाव है, इसलिए वह सबका ज्ञाता है और प्रत्येक पदार्थ में प्रमेयत्वगुण है अर्थात् समस्त पदार्थ ज्ञान में ज्ञात होने योग्य-ज्ञेय हैं। यह आत्मा स्वयं ज्ञानरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है। आत्मा के ज्ञान में समस्त पदार्थ ज्ञात हों, ऐसा स्वभाव है। पदार्थों का स्वभाव ऐसा है कि वे ज्ञान में ज्ञात हों, और ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि वह पदार्थों को जाने। आत्मा का पर के साथ ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक संबंध ही है। इसके अतिरिक्त आत्मा पर में कुछ करे या परवस्तु आत्मा में कुछ करे - ऐसा ज्ञान का या ज्ञेय का स्वभाव नहीं है। ऐसे स्वभाव की प्रतीति, वह धर्म का मूल और प्रारम्भ है।

10. शुद्धोपयोग के लिए धर्मी जीव की भावना

समस्त परज्ञेय मुझसे भिन्न हैं, मैं उनका ज्ञाता ही हूँ, उनमें कुछ करनेवाला नहीं हूँ, ज्ञान ही मेरा स्वभाव है, इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक का भेदज्ञान और ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने के बाद धर्मी कैसी भावना करता है, उसका यहाँ वर्णन है। धर्मी जीव ऐसी भावना करता है कि अशुभ या शुभ उपयोगरहित होता हुआ और समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होकर मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा को ध्याता हूँ। शुभ-अशुभभावरहित आत्मस्वभाव का भान तो चौथे गुणस्थान से ही हो जाता है, अब यहाँ तो आचार्यदेव अपनी वर्तमान भूमिका से चारित्रदशा के शुद्धोपयोग की बात करते हैं। शुभ-अशुभभावरहित आत्मा के स्वभाव का भान होने के पश्चात्, चारित्रदशा में जो शुभभाव होते हैं, वह भी बंध का कारण होने से उसे छोड़कर मैं आत्मस्वभाव को ध्याता हूँ, इसलिए स्वद्रव्य को ही दृष्टि में लेकर उसमें स्थिर होता हूँ। यह शुद्धोपयोग है, इससे अशुद्धोपयोग का विनाश होता है। जीव को परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्धोपयोग है - इसप्रकार 156वीं गाथा में अशुद्धोपयोग की बात करके, उसके शुभ और अशुभ ऐसे भेदों का वर्णन 157 तथा 158वीं गाथ में किया और इस 159वीं गाथा में उस अशुद्धोपयोग का नाश करने के उपाय की बात की है।

11. जीव ने संसार में क्यों परिभ्रमण किया ?

जीव ने अनंतकाल में आत्मा के स्वभाव की बात कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी। जब सत् सुनानेवाले मिले, तब बात कानों में पड़ी किन्तु अंतर में उसकी रुचि प्रगट नहीं की। आत्मस्वभाव समझे बिना अनंत बार समवसरण में जाकर साक्षात् तीर्थंकर भगवान की पूजा हीरों के थाल में कल्पवृक्ष के पुष्पों से की, बाह्य में भगवान के सन्मुख देखा किन्तु अन्तर में अपना आत्मा भगवान

है, उसके सन्मुख नहीं देखा, इसलिए पुण्यबंध करके संसार में भटकता रहा। कभी देव होकर साक्षात् तीर्थंकर भगवान के पंचकल्याणक में गया, परन्तु उस समय मात्र बाह्य संयोग पर दृष्टि रखी और पुण्य क्रिया में आत्मा का धर्म मान लिया, इसलिए संसार में ही भटकता रहा। भीतर आत्मा का सहज चैतन्यस्वभाव क्या है ? उसे नहीं समझा।

12. क्रिया का स्वरूप

देखो ! यह धर्म की क्रिया कही जाती है। आत्मा के सहजस्वभाव को पहिचानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना, सो धर्म की पहली क्रिया है। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में जो बाह्य क्रिया दिखाई दे रही है, वह जड़ की क्रिया है, भीतर जो शुभराग होता है, वह आत्मा की विकारी क्रिया है और 'मैं जड़ की क्रिया का कर्ता नहीं हूँ तथा राग मेरा स्वभाव नहीं है' - इसप्रकार जड़ की और विकार की क्रिया से भिन्न चैतन्यस्वभाव का अंतर में भान करना, सो धर्म की क्रिया है। इसप्रकार क्रिया के तीन प्रकार हैं - 1. जड़ की क्रिया, 2. विकारी क्रिया और 3. धर्म की क्रिया। शरीरादि के हलन-चलन या बोलने की जो क्रिया होती है, वह जड़ की क्रिया है, उसका कारण जड़ है, उस क्रिया में आत्मा का धर्म या अधर्म नहीं है। आत्मा की अवस्था में जो शुभ और अशुभ परिणाम होते हैं, वह अरूपी विकारी क्रिया है, वह विकारी क्रिया अधर्म है, उसमें धर्म नहीं है। अब, तीसरी क्रिया धर्म की है। शरीरादि जड़ की क्रियारहित और राग-द्वेषादि क्रियारहित, आत्मा के चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूपी जो पवित्र क्रिया है, वह धर्म की क्रिया है और वह क्रिया मोक्ष का कारण है। सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारणभूत जो सोलह भावनाएँ होती हैं, वह भी शुभराग की क्रिया है, उसे ज्ञानी धर्म नहीं मानते।

13. ज्ञानी सच्ची क्रिया की स्थापना करते हैं, अज्ञानी उत्थापना करते हैं

प्रत्येक वस्तु को सच्ची क्रिया की ज्ञानी स्थापना करते हैं और अज्ञानी उसकी उत्थापना करते हैं। वह इसप्रकार है -

1. जड़ की क्रिया - शरीरादि जड़ की क्रिया उसके अपने कारण स्वतंत्ररूप से होती है, इसप्रकार ज्ञानी जड़ की स्वतंत्र क्रिया की स्थापना करते हैं और अज्ञानी कहते हैं कि जड़ की क्रिया अपने आप नहीं होती किन्तु आत्मा उसे करता है, इसलिए अज्ञानी जड़ की स्वतंत्र क्रिया की उत्थापना करते हैं।

2. विकारी क्रिया – पुण्यभाव धर्म की नहीं किन्तु विकारी क्रिया है, इसप्रकार ज्ञानी विकार की क्रिया को विकाररूप से स्थापित करते हैं और अज्ञानी उस पुण्यभाव को विकारी क्रियारूप न मानकर उसे धर्म की क्रियारूप से मानते हैं, इसलिए वे विकार की क्रिया का उत्थापन करते हैं।

3. धर्म की क्रिया – विकाररहित आत्मा के वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप भाव – वह धर्म की क्रिया है। इसप्रकार ज्ञानी धर्म की क्रिया को स्थापित करते हैं और अज्ञानी शरीर की क्रिया में तथा पुण्य की क्रिया में धर्म मानकर आत्मा के धर्म की स्वतंत्र क्रिया का उत्थापन करते हैं।

संक्षेप में – ज्ञानी जगत के समस्त पदार्थों की क्रिया को स्थापित करते हैं और अज्ञानी जगत के समस्त पदार्थों की क्रिया को पराधीन मानकर उस स्वतंत्र क्रिया का उत्थापन करते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया करता है – ऐसा जिसने माना, उसने सच्ची क्रिया की स्थापना नहीं की किन्तु उसका उत्थापन किया है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ भी किया नहीं करता, ऐसा मानना ही प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्र क्रिया की स्थापना है।

14. अज्ञान सबसे महान दोष है

जीव अपनी ही भूल के कारण अनादि से परिभ्रमण कर रहा है। अज्ञान सबसे महान दोष है, वह बचाव नहीं है। लोकव्यवहार में कोई अपराध करे और फिर कहे कि मुझे कानून की खबर नहीं थी तो वह बचाव काम में नहीं आयेगा, क्योंकि अज्ञान बचाव नहीं है। उसीप्रकार आत्मस्वभाव की प्रतीति न करे और पुण्य को धर्म माने तो वह अज्ञान है-अपराध है और उससे जीव संसाररूपी कारागार में भटकता है। जीव को सत् सुनानेवाले नहीं मिले, इसलिए उसने परिभ्रमण किया – ऐसा नहीं है। किन्तु स्वयं आत्मा में सत् समझने की पात्रता प्रगट नहीं की तथा किसी समय सत् सुनने को मिला, तब उसकी रुचि नहीं की और अज्ञानभाव का सेवन करता रहा, इसीलिए परिभ्रमण किया है। तीर्थयात्रा करने का अथवा जिनमंदिर बनवाने का भाव, वह धर्म नहीं है, किन्तु पुण्य है। पुण्य और पाप – दोनों भाव अधर्म हैं – ऐसी जिनकी मान्यता नहीं है, वे मिथ्यादृष्टि हैं, जैन नहीं हैं।

टीका

15. अशुद्धोपयोग के विनाश का अभ्यास

'जो, यह, परद्रव्य के संयोग के कारणरूप कहा गया अशुद्ध उपयोग है, वह वास्तव में मंद-तीव्र उदयदशा में विद्यमान परद्रव्य अनुसार परिणति के आधीन होने से ही वर्तता है, परन्तु अन्य किसी कारण से नहीं। इसलिए समस्त परद्रव्यों में मैं मध्यस्थ होऊँ और मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्य अनुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ अथवा अशुभ - ऐसा जो अशुद्ध उपयोग, उससे मुक्त होकर, केवल स्वद्रव्य अनुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसे शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है - ऐसा होकर, उपयोगात्मा द्वारा आत्मा में ही सदैव निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ। यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है।

16. शुद्ध और अशुद्ध भावों की उत्पत्ति का कारण

परिणति परद्रव्य का अनुसरण करे तो अशुद्ध उपयोग होता है और परिणति स्वद्रव्य का अनुसरण करे तो शुद्ध उपयोग होता है। अशुद्ध उपयोग अधर्म है और संसार का कारण है। पुण्य और पाप - यह दोनों अशुद्धभाव परद्रव्य की आधीनता से होते हैं, इसलिए वे धर्म नहीं हैं। आत्मा की आधीनता से शुभ-अशुभभाव की उत्पात्ति नहीं होती। आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, उस स्वभाव के आधीन रहे तो शुभ-अशुभ की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु शुद्धता प्रगट होती है। अपने शुद्धस्वभाव का भान होने पर भी निचली दशा में धर्मी को भी पूजा-भक्ति-व्रत आदि शुभभाव हुए बिना नहीं रहते, किन्तु वे जानते हैं कि यह शुभभाव मेरे स्वद्रव्य के अनुसार नहीं होते हैं, इसलिए वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसप्रकार वास्तव में वह धर्मी जीव शुभभाव को अपने से भिन्न परज्ञेयरूप जानता है और आत्मा की सन्मुखता की भावना करता है। शुभभाव हो, उसमें देव-गुरु-शास्त्र आदि पर का लक्ष होता है और अशुभभाव हो, उसमें स्त्री, पुत्र, शरीरादि पर का लक्ष होता है। कोई भी शुभ-अशुभभाव हो, वह पर की सन्मुखता से होता है; आत्मा की सन्मुखता से शुभाशुभभाव की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु शुद्धभाव की ही उत्पत्ति होती है। अपने स्वरूप में लीन न रह सके, उस समय धर्मी को भी परद्रव्य के अनुसार शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं और अशुभ से बचने के लिए पूजा-भक्ति-स्वाध्याय आदि शुभभाव होते हैं। यदि शुभ-अशुभ भाव बिलकुल न हों तो

वीतराग केवली हो जायें अथवा यदि परदद्रव्य की सन्मुखता हो क्योंकि परद्रव्य के लक्ष से या तो शुभ होता है या फिर अशुभ होता है। धर्मी को निचली दशा में अशुभ भाव से बचने के लिए शुभभाव होता है किन्तु वह पर के अवलम्बन से होता है, उसमें धर्म नहीं है। आत्मा के स्वभाव के अवलम्बन से यदि शुभाशुभभाव होते हों तो वे भाव आत्मा का स्वभाव ही हो जायें और कभी दूर न हो सकें। आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं हैं, इसलिए आत्मस्वभाव का अनुसरण करने से पुण्य-पाप की उत्पत्ति नहीं होती।

आत्माधीन परिणति से पुण्य-पाप उत्पन्न नहीं होते, किन्तु वे दोनों भाव कर्म की मंद-तीव्र उदय दशा में विद्यमान परद्रव्य अनुसार परिणति के आधीन होने से ही वर्तते हैं, उनमें धर्म नहीं हैं। आत्मा स्वद्रव्य के आधीन परिणमित न हो और परद्रव्य अनुसार परिणति करे तो वह बंध का ही कारण है। अज्ञानी को स्वद्रव्य और परद्रव्य की भिन्नता का भान नहीं है, इसलिए वह तो श्रद्धा अपेक्षा से भी परद्रव्य अनुसार ही परिणमित होता है। धर्मी जीव को स्वाधीन आत्मतत्त्व की दृष्टि होने से श्रद्धा अपेक्षा से तो वह स्वद्रव्य अनुसार ही परिणमित होता है, तथापि अभी सम्पूर्णतया स्वरूप में स्थित नहीं है, वहाँ अस्थिरतारूप से परद्रव्य अनुसार परिणति के आधीन होकर परिणमन होता है, उतनी शुभाशुभभाव की उत्पत्ति है।

यहाँ श्री आचार्यदेव ने सिद्धान्त रखा है कि स्वद्रव्य अनुसार परिणमित होना, सो शुद्धता का कारण है और परद्रव्य अनुसार परिणमित होना ही अशुद्धदशा का कारण है। कोई कर्म या कुदेवादि परवस्तुएँ आत्मा को अशुद्धता का कारण नहीं हैं, किन्तु उस परद्रव्य के अनुसार परिणमित होना, वह एक ही अशुद्धता का कारण है।

'परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन' का क्या अर्थ ? पहले परद्रव्य अनुसार परिणति हुई और फिर आत्मा उसके आधीन हुआ - ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा स्वद्रव्य के अनुसार परिणति से च्युत हुआ, उसी समय परद्रव्य के अनुसार परिणति के आधीन हुआ है। परद्रव्य अनुसार परिणति होने का और उसके आधीन होने का काल पृथक् नहीं है।

आत्मा यदि स्वयं परद्रव्य के अनुसार परिणमित हो, तभी अशुद्धता होती है, यदि स्वद्रव्य अनुसार परिणमन करे तो अशुद्धता नहीं होती। इसलिए, 'आत्मा ने पहले अशुद्धभाव से जो कर्म बांधे, वे कर्म जब तक उदय में आयें, तब एक बार तो उसमें युक्त होकर विकार करना ही पड़ता है'

– ऐसा कोई कोई अज्ञानी मानते हैं, वह बात बिलकुल मिथ्या है, क्योंकि उस समय भी यदि आत्मा स्वद्रव्य के आधीनरूप से परिणमित हो तो उसे अशुद्धता नहीं होती और कर्मों का उदय भी टल जाता है।

17. राग-द्वेष को टालने का क्या अर्थ ?

कोई अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पहले समय में जो राग-द्वेष हुए, उन्हें दूसरे समय दूर करना चाहिए। देखो, इसमें भी पर्यायदृष्टि की सूक्ष्म भूल है। क्या पहले समय के राग-द्वेष दूसरे समय विद्यमान हैं ? तू किसे दूर करना चाहता है ? पहले समय के राग-द्वेष का दूसरे समय में तो अभाव हो ही जाता है, उन्हें टालना नहीं पड़ता। राग-द्वेष टालने पर जिसकी दृष्टि है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। वास्तव में राग-द्वेष को टालना नहीं पड़ता किन्तु दूसरे समय स्वयं स्वभावाधीन परिणमित हो तो राग-द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती, इसलिए राग-द्वेष को दूर कर दिया – ऐसा उपचार से कहा जाता है। स्वभावदृष्टि करके उसके आश्रय से, परिणमन करने से शुद्धता का उत्पाद होता है और अशुद्धता का उत्पाद ही नहीं होता। इसलिए स्वभाव की दृष्टि प्रगट करके स्वभावाश्रित परिणमन ही धर्म है। ●●

भगवान कथित नवतत्त्व

(केवलज्ञान कल्याणक के प्रवचन से)

भगवान ने केवलज्ञान में सम्पूर्ण विश्व को प्रत्यक्ष देखा, उसमें छह प्रकार के द्रव्य देखे, एक जीव और पाँच प्रकार के अजीव। जीव और अजीवतत्त्व त्रिकाली है और उनके परस्पर संबंध से अन्य सात तत्त्व होते हैं। वे क्षणिक हैं। इसप्रकार कुल नवतत्त्व हैं – जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

जीव अपना हित करना चाहता है। हित किसका करना है ? अपने आत्मा का। जगत में जो वस्तु सत् हो, उसका हित होता है अर्थात् जिसका हित करना है, ऐसा अपना आत्मा है, इसप्रकार अपने आत्मा का अस्तित्व निश्चित करना चाहिए, तथा जिन्होंने अपना हित कर लिया है और जिन्होंने अपना हित नहीं किया, ऐसे अपने अतिरिक्त अन्य आत्मा इस जगत में हैं – ऐसा जानना चाहिए। स्वयं अपना हित करना चाहता है, इसका अर्थ यह भी हुआ कि अभी तक अहित किया है। अपने स्वभाव के लक्ष से अहित नहीं होता, किन्तु स्वभाव से विरुद्ध अल्प वस्तुओं के लक्ष से अहित हुआ है। इसलिए जीव के अतिरिक्त अन्य अजीव वस्तुएँ भी हैं। जिस वस्तु में जानने की शक्ति है, वह जीव है और जिसमें जानने की शक्ति नहीं है, वह अजीव है। जीव की पर्याय में जो विकार होता है, उसमें अजीव कर्म निमित्त है। जीव की पर्याय में मलिनता के चार प्रकार पड़ते हैं – पुण्य, पाप, आस्रव और बंध। उसमें निमित्तरूप कर्म में भी यह चार प्रकार का है तथा अपने स्वभाव का भान करके उसे ओर परिणमित होने से शुद्धता होती है। उस शुद्धता के तीन प्रकार हैं – संवर, निर्जरा और मोक्ष। उसमें कर्म का अभाव निमित्तरूप है। इसप्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। कुल नवतत्त्व भगवान ने कहे हैं। इनमें से एक भी तत्त्व कम नहीं हो सकता और न इन नव के अतिरिक्त अन्य कोई दसवाँ तत्त्व जगत में हो सकता है। यदि इन नवतत्त्वों को न माना जाये तो कुछ भी वस्तुस्थिति सिद्ध ही नहीं हो सकती।

हे भाई ! तू जीव है, ऐसा कहते ही 'तेरे अतिरिक्त अन्य अजीव पदार्थ हैं, वह तू नहीं है' – ऐसा उसमें आ जाता है, इसलिए 'जीव है' ऐसा कहते ही अनेकान्त के बल से 'अजीव' भी सिद्ध

हो जाता है। 'अनेकान्त' भगवान के शासन का अमोघ मंत्र है, उस अनेकान्त के द्वारा सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव जाना जाता है। अनेक लोग अनेकान्त का यथार्थ स्वरूप समझे बिना, अनेकान्त के नाम से गड़बड़ करते हैं। अनेकान्त तो प्रत्येक तत्त्व की स्वतंत्रता बतलाता है और पर से पृथक्त्व बतलाकर स्वभाव की ओर ले जाता है।

जीव और अजीव – यह दो मूल द्रव्य अनादि-अनंत निज-निज स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं। वे सर्वथा नित्य नहीं हैं किन्तु नित्य-अनित्यस्वरूप है, वस्तुरूप से स्थायी रहकर अपनी अवस्था बदलते हैं अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं। उनमें जीव जब पर के आश्रय से उत्पन्न होता है, तब उसकी पर्याय में पुण्य-पाप-आस्रव और बंध की उत्पत्ति होती है और जब स्वभाव का आश्रय करके उत्पन्न होता है, तब संवर-निर्जरा और मोक्ष की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार जगत में जीवादि नवतत्त्व हैं। भगवान ने पूर्ण ज्ञान में उन नव तत्त्वों को देखा है, दिव्यध्वनि द्वारा वे नवतत्त्व कहे हैं और सच्चे श्रोताजन उन नवतत्त्वों का स्वरूप समझ कर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुए। स्वभावोन्मुख होने से उनकी पर्याय में से पुण्य-पाप-आस्रव और बंधरूप विकारी तत्त्वों का अभाव होने लगा और संवर-निर्जरा तथा मोक्षरूप निर्मल तत्त्वों की उत्पत्ति होने लगी। इसका नाम धर्म है और यही हित का उपाय है।

आत्मा आनंदस्वभाव से परिपूर्ण है, किन्तु अज्ञानी को उसका भान नहीं है, इसलिए अवस्था में मलिनता है और उस मलिनता में परवस्तु निमित्त है। यदि अवस्था में होनेवाली मलिनता को और परवस्तु को न माने तो वह अभिप्राय यथार्थ नहीं है। इस जगत में मात्र अद्वैत आत्मा ही है – ऐसा जो माने, उसे तो पर से और विकार से भेदज्ञान करके अंतरस्वभावोन्मुख होना भी नहीं रहता। यदि पर को और विकार को जाने तो पर से भिन्नत्व का भान करके और क्षणिक विकार का आश्रय छोड़कर अभेदस्वभाव के आश्रय से भेदज्ञान (आत्मज्ञान) और सम्यक्चारित्र होकर मुक्ति होती है। 'आत्मा का हित करना है' – इसमें यह सारी बात आ जाती है। यह सब स्वीकार किए बिना आत्मा का हित करने की बात ही नहीं रहती।

जगत में जो छह द्रव्य अथवा नवतत्त्व स्वयंसिद्ध हैं, वे ही भगवान ने ज्ञान में जानकर कहे हैं, किन्तु भगवान ने कहीं किसी तत्त्व को नया नहीं बनाया है और भगवान ने कहे इसलिए वे तत्त्व हैं – ऐसा भी नहीं है और वे तत्त्व हैं, इसलिए उनके कारण भगवान को ज्ञान हुआ – ऐसा भी नहीं

है। जगत के तत्त्व स्वतंत्र हैं और भगवान का ज्ञान भी स्वतंत्र है। मात्र ज्ञेयज्ञायक स्वभाव ऐसा है कि जैसा ज्ञेय पदार्थों का स्वभाव हो, वैसा ही ज्ञान में ज्ञात होता है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ नहीं करता। भगवान आत्मा चिदानन्द शुद्ध स्वभावी हैं, वही पर का कुछ नहीं करता।

यदि 'जीव' न हो तो कल्याण किसका करना !

यदि 'अजीव' न हो तो जीव की पर्याय में भूल कैसे हो ?

यदि जीव की पर्याय में पराश्रय से होनेवाला 'विकार' न हो तो कल्याण करना ही क्यों रहे ?

यदि स्वाश्रय से वह विकारदशा दूर होकर 'अविकारी दशा' न होती हो तो कल्याण कहाँ से हो ?

इसलिए जीव है, अजीव है, अजीव के आश्रय से जीव की पर्याय में विकार है और अपने स्वभाव के आश्रय से वह विकार दूर होकर निर्मल दशा होती है। इसप्रकार जीव, अजीव, विकार और स्वभाव – इन चारों पक्षों को बराबर जानकर स्वभाव का आश्रय करे तो अधर्म दूर होकर धर्म होता है। इसमें नवों तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

'अहो वाणी थारी....!'

अहो ! पंचमकाल में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समयसार में अमृत वर्षा की है, जिसके श्रवण की मिठास-मधुरता को सुनते ही जिज्ञासु को तत्त्व का बहुमान आये कि अहो ! ऐसी बात कभी नहीं सुनी। कितनी स्पष्ट बात है। यह निर्मल-पवित्र बात जिसे आत्मा में जम गई, वह पिछड़ नहीं सकता। मैं स्वानुभव से कहता हूँ कि मैं सिद्ध हूँ, तू भी सिद्ध है - ऐसा भी आचार्यदेव कहते हैं, उसका स्वीकार करे, ऐसे योग्य पात्र जीव को ही समयसार में शुद्धात्मा की बात सुनाते हैं।

अहो ! टीका में परम अद्‌भुत, अलौकिक बात है। श्री आचार्यदेव ने अपूर्व सत् की स्थापना करके-कराके प्रथम ही मोक्ष के मांगलिक गाये हैं - प्रत्येक आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है। यही सर्वोत्कृष्ट मंत्र है, उसका गुंजराव करके आचार्यदेव संसार में सोते हुओं को जगाते हैं। जिसप्रकार बीन की नाद से सर्प जागृत होकर आनंद से डोलने लगता है, उसीप्रकार हे जीव ! देहरूपी गुफा में तू त्रिलोकीनाथ आत्मा है, समयसार में तेरी महिमा के गीत गाये जा रहे हैं, तो तू क्यों नहीं नाचेगा ? 'तू पूर्ण है, प्रभु है' - यह रुचिपूर्वक सुनकर एक बार सहर्ष 'हाँ' कह ! कि 'मैं सिद्ध हूँ, इस पूर्णस्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी मुझे नहीं चाहिए।' सर्वज्ञ-वीतराग ने तो तेरी स्वतंत्रता की घोषणा की है। जिसप्रकार राजा राजगद्दी पर बैठते समय घोषणा की जाती है कि अब हमारा राज्य है, उसीप्रकार हम तुझे सिद्धपद के राज्य में स्थापित करते हैं, तू ज्ञानी होकर, आत्मा में संतुष्ट होकर कह कि मेरा सिद्धपद का राज्य है, उसमें संसारपद का नाश है। हम प्रथम सिद्धपद की गद्दी पर बैठे और सिद्धपने की घोषणा की, तुझे भी वैसा ही कह रहे हैं, इसलिए तू आनंदपूर्वक स्वीकार करके सुन।

- समयसार प्रवचन से

नवतत्त्व और धर्म

1. जीव और अजीव, यह दो मूल द्रव्य अनादि-अनंत निज -निज स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं।

2. वे सर्वथा नित्य नहीं, किन्तु नित्य-अनित्यस्वरूप है।

3. वे वस्तुरूप से स्थायी रहकर अपनी अवस्था बदलते हैं अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं।

4. उनमें जीव जब पर के आश्रय से उत्पन्न होता है, तब उसकी पर्याय में पुण्य-पाप-आस्रव और बंध की उत्पत्ति होती है।

5. जीव जब स्वभाव का आश्रय करके उत्पन्न होता है, तब संवर-निर्जरा और मोक्ष की उत्पत्ति होती है।

6. इसप्रकार जगत में जीवादि नवतत्त्व हैं।

7. भगवान ने पूर्णज्ञान में वे नवतत्त्व देखे हैं।

8. दिव्यध्वनि द्वारा वे नवतत्त्व कहे गये हैं।

9. सच्चे श्रोताजन उन नवतत्त्वों का स्वरूप समझकर अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुए।

10. स्वभावोन्मुख होने से उनकी पर्याय में से पुण्य, पाप, आस्रव और बंधरूप विकारी तत्त्वों का अभाव होने लगा तथा संवर, निर्जरा और मोक्षरूप निर्मल तत्त्वों की उत्पत्ति होने लगी। इसका नाम धर्म है और यही हित का उपाय है।

सर्वज्ञ कहाँ है ?
और
कैसे होते हैं ?

इस समय इस भरतक्षेत्र में कोई सर्वज्ञ नहीं विचर रहे हैं, तो इस जगत में कौन सा क्षेत्र है कि जहाँ इस समय सर्वज्ञदेव विचर रहे हों ? इस समय इस पृथ्वी पर विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान आदि बीस तीर्थंकर और अनेक केवली भगवंत सर्वज्ञरूप से विचर रहे हैं। इसलिए सर्वज्ञ का निर्णय करने से विदेहक्षेत्र भी निश्चित हो जाता है। उन सर्वज्ञपुरुष के ज्ञान से बाहर कुछ नहीं होता, उनके राग-द्वेष नहीं होते, वे संसार के जीवों का कुछ नहीं करते। न तो वे सर्वज्ञ पुरुष आहार लेते हैं, न स्त्री रखते हैं, न शस्त्र-वस्त्रादि रखते हैं, उन्हें रोग नहीं होता, न वे पृथ्वी पर चलते हैं, वे तो आकाश में विचरते हैं, उनके क्रमिक भाषा नहीं होती किन्तु निरक्षरी दिव्यध्वनि होती है, वे किसी को वंदन नहीं करते। ऐसे पूर्णज्ञानी आत्मा को जाने बिना यथार्थरूप से पूर्णता की भावना नहीं होती। अपने को धर्म द्वारा जो पूर्ण पद प्राप्त करना है, उसका स्वरूप तो जानना चाहिए न ! और वह पूर्ण पद प्रगट होने की शक्ति अपने स्वभाव में है, उसे जाने तो धर्म का प्रारम्भ हो।

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें!

समयसार -प्रवचन (भाग-1)	6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2)	5-0-0
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें	1-6-0
दशलक्षण-धर्म	0-12-0
सम्यग्दर्शन	2-8-0
भेदविज्ञानसार	2-0-0
मूल में भूल	0-12-0
मुक्ति का मार्ग	0-10-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

उपरोक्त पुस्तकों में 'सम्यग्दर्शन' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)